Teachings of Sahaj-Marga.

1. Have firm faith in God—The one Absolute, and live in him.
2. The two phases of life, the worldly and the Divine must go side by side, in conjunction with each other and must be attended to with out least neglect of either.
3. Take everything in the sense of duty and attend to it faithfully without any feeling of attraction or repulsion.
4. Love all beings with a spirit of service and sacrifice.
5. Give every one his fair dues, treating him as your own.
6. Treat elders with respect and youngers with affection abiding by the general rules of ettiquette.
7. Meet adversity with resignation, banishing from the heart, feelings of anger and vengance.
8. Follow tolerance and moderation in all activities of life.
9. Aim at the highest, putting in honest and sincere efforts for its achievement.

Printed by
Gandhi Press, Shahjahanpur.

63.R6.2

❀ ओ३म् तत्सत् ❀

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष ७ Year 7
अंक २ Number 2

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर (उ०प्र०)
(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission
Shahjahanpur, U. P. (India)

सम्पादक मण्डल
काशीराम अग्रवाल, शाहजहाँपुर
सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ०प्र०)

वार्षिक मूल्य ३) एक अंक १)

1963. No 2

प्रकाशक— श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट शाहजहाँपुर
उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

विषय सूची :—

विषय	लेखक	पृष्ठ
१—प्रार्थना		१
२—सम्पादकीय		२
३—साधना	समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़	३
४—शून्यता और उससे आगे	श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन	८
५—मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः	हरिदत्तसिंह लखीमपुर-खीरी	१५
६—पूजा और कर्म	काशीराम अग्रवाल	२४
७—एक विचार	जगदीशप्रसाद अग्रवाल	२७
8—A Thought	Shri Ram Chandra ji, President	33
9—Sahaj Marga-A new School of thought	Sri Raghavendra Rao Bellary, South India	37
10—An Abhyasi's Experience.		49
11—My Master of this world & beyond.	Ram Chandra Saxena	50
12—Talks on Efficacy of Rajyoga	Dr. K. C. Varadachari M. A., Ph. D.	56
13—The Master and God.	Shri Ishwar Sahai	62

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठोजागो !! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो)

वर्ष ७ अङ्क २] शाकाब्द १८८५, सं० २०२० विक्रमी Year 1963 [Year 7 No. 2

❋ प्रार्थना ❋

हे नाथ, तू ही मनुष्य-जीवन का ध्येय है।
हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक हैं।
तू ही हमारा एकमात्र स्वामी और इष्ट है।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।

O, Master !
Thou art the real goal of human life
We are yet but slaves of wishes
putting bar to our advancement.
Thou art the only God and Power
to living me upto that stage.

सम्पादक की बात :-

हमें अपने सहृदय पाठकों और ग्राहकों को यह सूचित करते हुए अत्यधिक हर्ष है कि आदरणीय 'मास्टर साहब' (श्री ईश्वर सहाय जी) की अंग्रेजी पुस्तक 'A Peep into Sahaj Marga' छप कर तैयार हो गई है। यह सहज मार्ग साधना के मूल सिद्धान्तों और साधना पद्धतियों पर प्रमाणित प्रकाश डालती है; और इस पद्धति के साधकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। श्रद्धेय 'बाबू जी' की अंग्रेजी पुस्तक 'Reality at Dawn' का द्वितीय संस्करण भी शीघ्र प्रकाशित होगा।

श्रद्धेय 'बाबू जी' ने इस वर्ष जून और जुलाई में दक्षिण भारत का भ्रमण किया। यह बड़े हर्ष का विषय है कि दक्षिण भारत में हमारे मिशन का प्रसार उत्तरोत्तर प्रगतिशील है। मदरास में एक और प्रशिक्षण केन्द्र श्री र० वीर राघवन के सञ्चालन में स्थापित हो गया है।

इस बात की ओर संकेत करते हुये खेद होता है कि पत्रिका के सातवें वर्ष के प्रथम अंक में प्रेस की अनभिज्ञता के कारण अनेक त्रुटियां हो गई हैं। कुछ लेख अधूरे रह गये हैं और कुछ दोबारा छप गये हैं। आशा है सहृदय पाठक इन त्रुटियों की ओर ध्यान न देंगे उन त्रुटियों का यथोचित परिष्कार करने की चेष्टा की जायेगी।

—सम्पादक

साधना

(समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़)

[क्रमागत]

इस दिल (हृदय) को यदि ज्ञान और कर्म दोनों से हटाकर केवल सूक्ष्म स्तर पर स्थित होने की शिक्षा दी जाये तो इस शिक्षा को 'उपासना' का नाम दिया जाता है। इस उपासना के परिणाम को सुख और शान्ति कहकर उसी को चरम लक्ष्य के रूप में स्थिर किया गया है। किन्तु इस उपासना में द्विधा का सुख है, जो विश्वसनीय नहीं है। यह खराबी (दोष) है। शरीर का स्थूल क्षेत्र पदार्थ (माद्दा–Matter) के अत्यधिक परिवर्तन का स्थान है। यहाँ से चित्त की वृत्ति बार २ हटाई जाती है और चूंकि सुख वृत्ति के एकाग्र होने और जमकर बैठने की दशा है, अतः उसके हटने से दुख होता है। शारीरिकता के सम्बन्ध में यह दोष है। इसका सुख (१) ऊपरी (२) नाशवान और (३) बेइख्तियारी (अपने बस के बाहर) है, और (४) होश को बढ़ाता है (५) द्विधा में डालता है और (६) भोग और योग दोनों हाथ में नहीं आते। इसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में चूंकि वह शारीरिकता के प्रभावों की छाया साथ ले जाता है अतः वहां भी उसका पाँव नहीं जमता और बेखबरी में जाकर बेखबरी से वापस आ जाता है और तृप्ति तथा

पिछले अङ्क में 'साधना' शीर्षक लेख अधूरा छपा था अतः इस अङ्क में उसके अन्तिम अनुच्छेद से आरम्भ करके आगे छपवाया जा रहा है।

इच्छाहीनता पैदा नहीं होती और अपूर्ण तथा सदोष बना रहता है; पूर्णता के गुण उसमें पैदा नहीं होते और न पूर्णत्व की उसे प्राप्ति हो पाती है।

दुख सुख के तीन तीन रूप शास्त्रों ने बताये हैं (१) अधिभौतिक (२) अधिदैविक (३) अध्यात्मिक। यह तीन प्रकार के दुख सुख होते हैं जो सुख दुख भूतों अर्थात् भौतिक तत्वों से निर्मित सृष्टि से होता है वह अधिभौतिक है। जो रूहानी या देव-सुख-दुख होता है वह अधिदैविक है और जो अपने दिल से होता है, दिल में पैदा होता है वह अध्यात्मिक है और यह उनके मेल और असर से पैदा होता है।

सुख नाम है चित्तवृत्ति की उपासना, ठहराव, टिकाव, सिमटाव और दृढ़ता की हालत का; और दुख नाम है चित्तवृत्ति की दूरासना, दुर्वासना, हटाव, झटकाव और निर्बलता का। इसके अतिरिक्त सुख दुख कोई चीज नहीं है। चित्त की वृत्ति सिर से लेकर पैर तक धार के रूप में नसों और नाड़ियों के द्वारा आया जाया करती है और जहाँ ठहरती है वहाँ सुख होता है और जहाँ से जबरदस्ती हटाई जाती है वहां दुख होता है। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक क्षेत्रों में यह बराबर चक्कर लगाती रहती है और सुख दुख का अनुभव किया करती है। यदि यह स्वाभाविक रूप में स्वयं आती जाती रहती है तो उसको सुख और दुख नहीं होता। ठहरने पर सुख और जबरदस्ती विवशतापूर्वक हटने या हटाये जाने पर दुख होता है। सुख दुख चित्त की वृत्ति की वासना

(बसना या ठहरना) और दुर्वासना (दूर बसाने या हटाने) का तमाशा है।

उदाहरणार्थ कोई दो आदमी शतरंज खेल रहे हैं। दोनों के चित्त की धार उस खेल पर स्थिर है मजा आ रहा है, आनन्द प्राप्त हो रहा है, ताजगी और सुख नसीब है यदि एक तीसरा व्यक्ति आकर उन्हें छेड़े, खेल में व्याघात प्रस्तुत करे या बिसात को उलट दे, तो स्थिर हुई वृत्ति जबरदस्ती हटाई गई या यूँ कहें कि हटने के लिये विवश हुई। परिणाम, सम्बन्ध- विच्छेद बदमजगी और दुख हुआ। यह पहला उदाहरण है।

दूसरा उदाहरण लो। एक व्यक्ति बाग़ की सैर को गया फूल, बूटे, मेढ़ क्यारी, सुगन्ध की लपेट, सुन्दर दृश्य देख रहा है, उन सब पर उसकी चित्त की वृत्ति ध्यान के लगाव के साथ स्थिर है, और वह खुश है। यदि व्यक्ति, घटना या विरोध के प्रभाव द्वारा उसका ध्यान जबरदस्ती हटाया जाता है तो खुशी नाखुशी में बदल जायगी। यह दूसरा उदाहरण है।

तीसरा उदाहरण लो। सितार बज रहा है। तबले पर थाप पड़ रही है, गाने वाले राग सुना रहे हैं, सुनने वाले की वृत्ति राग रंग में डूबी है और वह सुखी है अब यदि कोई उसको वहाँ से हटा दे तो वृत्ति के हटने के कारण उसी समय दुख होगा।

यह वृत्ति जब खाने पीने के सामान और इन्द्रिय स्वा- देन्द्रिय) को केन्द्र बनाकर जम जाती है तो सुख मिलता है। सामान हटा लो, जबान को दांतों से थोड़ा जख्म या सदमा पहुँचा

दो। वृत्ति हटेगी और इसका परिणाम दुख होगा। हड्डी चबाते हुए कुत्ते को थोड़ा छेड़ कर देख लो।

स्वास्थ्य और तन्दुरुस्ती के समय चित्त या तवज्जह की वृत्ति नस और नाड़ी के द्वारा आती जाती हुई शरीर के क्षेत्र पर ठहरा करती है, और सुख रहता है। यदि कोई ज़ख्म आ जाये रग कट जाये, खून निकलने लग जाये तो इन दुर्घटनाओं के कारण आई हुई वृत्ति की धार को ठहरने का मौका न मिलेगा और आ आ कर उसे ज़ख्म के कारण बार-बार हटना पड़ेगा, जिसके कारण दुखी होना अनिवार्य है।

सुस्वास्थ्य की स्थिति में वृत्ति का ठहराव होता रहता है, जिसके परिणाम स्वरूप सुख है अस्वास्थ्य की स्थिति में हटाव होता है जिसके परिणाम स्वरूप दुख रहता है। आमाशय यदि चित्त की वृत्ति की धार के ठहरने से अपना काम करता रहता है तो सुख है। यदि कहीं भारीपन हुआ, बदहज़मी हुई और वृत्ति को विवश होकर हटना पड़ा तो फिर वहां दुख दर्द ही होगा। इसी प्रकार सभी बीमारियों के विषय में समझ लो। ज़ख्मी भाग पर दवा के मल देने से दो हालतें होंगी, या तो नस नाड़ी का सिलसिला जारी हो जायेगा और वृत्ति के आने जाने में फिर रुकावट न रहेगी; या फिर वह हिस्सा सुन्न (अनुभव शून्य) हो जायेगा, और वृत्ति का हटना समाप्त हो जायेगा। अतः दुख जाता रहता है।

जब कोई हमदर्द दोस्त, हकीम, गुरू या प्रिय रिश्तेदार बीमार के पास आ बैठता है तो बीमार के चित्त की वृत्ति की धार

उस दवा के प्रभाव के अन्तर्गत अथवा शरीर के निम्न भाग को छोड़ कर दिमाग़ में चली जाती है और वहां अचेतन रूप से प्रकृति के नियम के अनुसार अपना केन्द्र बना लेती है, अतः दर्द का अनुभव नहीं रह जाता। जब कोई व्यक्ति किसी ऊँची इमारत से गिरने के कारण सर तोड़ लेता है तो सदमा (चोट) के प्रभाव से चित्त की धार नीचे के भाग को बिल्कुल छोड़ देती है, और मस्तिष्क में जाकर आसन जमा लेती है। वहाँ भी यही भेद काम करता है। सुख बाहर तो कहीं भी नहीं है, वह हमारी तवज्जह के लगाव की वृत्ति के ठहराव और सूरत के सिमटाव में है। जो इस भेद को जानते हैं उनको बाहर सुख की तलाश करने की क्या आवश्यकता है?

कोई व्यक्ति अपने हृदय को केन्द्र बनाकर वहाँ किसी खास विचार को मस्तिष्क में लिये हुए सोच रहा है, परिणाम को समझ-समझ कर प्रसन्नता में डूबा हुआ है। चाहे यह विचार गणित शास्त्र की समस्या अथवा ज्योतिष शास्त्र की जटिल पहेली अथवा दर्शन शास्त्र का प्रश्न हो, चाहे कोई और ही विचार हो- वहाँ भी उसको सुख रहता है और डुबाव की हालत हो जाती है। यदि कोई व्यक्ति उसको छेड़ दे और वृत्ति हट जाये तो दुख होगा।

चित्त की वृत्ति की धार और तवज्जह की एकतानता के अतिरिक्त आत्मिक क्षेत्र में और कोई दूसरा सिद्धान्त काम नहीं करता। आत्मिक सुख और कुछ नहीं है-वह केवल स्थिरता, ठहराव और शान्ति है।

(क्रमशः)

शून्यता और उससे आगे

(श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन)

पूर्ण अभाव (Complete Negation) की हालत में मनुष्य शून्य (Vacuumise) हो जाता है। इस प्रकार कि इस समय तक कोई आला (Instrument) ईजाद (invent) नहीं हुआ कि किसी चीज को पूर्णतः शून्य कर सके। वैज्ञानिक बताते हैं कि पूरी तौर से जब हवा आले के द्वारा निकाली जाती है, तो फिर भी कुछ बाकी रह जाती है। मेरा कहना यह है कि यदि कहीं कोई आला ईजाद हो जाये कि किसी कमरे या गोले में से हवा बिल्कुल निकाल सके, तो वहाँ जान ही जान रह जायेगी और इतना जबर्दस्त विध्वंसक अस्त्र (Destructive weapon) बन सकता है कि उससे ज्यादा विध्वंसक अस्त्र आज तक ईजाद ही नहीं हुआ।

अब हमें मनुष्य को ऐसा शून्य (Vacuum) बनाना है। मगर इतनी बात और है कि पूर्ण अभाव की जब भूली हुई दशा (Forgetful state) आती है, तब कहीं पूरी तौर पर Vacuum बनता है। अगर कहीं ऐसा बन गया तो वह एक विशाल बैटरी (Gigantic battery) बन जाता है, और उसकी ताकत का कहीं ठिकाना नहीं, और यह चीज अवतारों में भी पायी नहीं जाती। उसके हाथ में है कि इससे चाहे निर्माण का काम (Constructive work) ले ले, चाहे विध्वंस का काम (Destructive work) ले ले; जिस तरफ उसकी इच्छा शक्ति (will) बँध जाती है, ताकत उसी तरफ काम करने लगती है।

ऐसेन रहिता येषा त्रिगदेश्वर वत्सलम्।
ऐश्वर्य वसिता येषा त्रिगदेश्वर तं ॥

मन के शून्यीकरण की विधा कहता है। वह जैसी जैसी क्रिया होती है वैसा ही उसका रूप और नाम होता है। मन, बुद्धि, चित्त, प्रकृति, शक्ति, कर्म, संस्कार, स्मृति, वासना, स्मरणशक्ति, मन, माया, अविद्या, शक्ति बीज, जीव, शारीरिक देह, इन्द्रिय, पुरुषत्व, मानसिक शरीर आदि पदार्थ - ये सब मन के ही प्रकीर्ण नाम और रूप हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि मन महान बलवान है। उसका निग्रह करना प्रशंसनीय कठिन है। वह महोन्मत्त मातङ्ग है जो नियंत्र होकर विषय-वन में विचर रहा है। उसे वांछकर वश में करना कठिन अवश्य है पर उसे बांधा जा सकता है। ऐसा को मजबूत जंजीरें पैरों में डाल दीजिये वह भाग ही उसकी धारों निरङ्कुशता भूल जायगी।

मन-मर्कट मद-मत्त या फिरता गहरे गैनोर।
हीरती हैरती चाहती, पर नहं पैर-जंजीर॥ कबीर

मनुष्य यदि प्रयत्नशील रहे तो वह अपने मन की चंचलता से उसका प्रत्याहितक भूमियों तक उपर उठ सकता है। किन्तु यदि वह धीरधीर न रहा तो इच्छा न रहते हुये भी उसका अधः पतन रोध ही सकता है। इसका मुख्य कारण यह है कि मौलिक तत्वों का संघर्ष होने के कारण मन में आवाजिक और अन्तरा इंद्रजा होती है और वह तब तक नीचे की ओर गिरता चला

दिल हमारा क्षीर सागर है। मगर उसमें वासना का सांप मौजूद है, जो हमारे असल को फन से घुमाये हुये है। लक्ष्मी भी मौजूद है। गोया यह दूसरी कड़ी है और हमको निजात इसलिये नहीं मिलती कि दूसरी ओर हममें कंचनी कामिनी वृत्ति भी मौजूद है। पांव दाबना विष्णु भगवान के माने यह है। कि वह असर जिस पर साँप का फन है, उसकी दासी वाक़ई यह कंचन-कामिनी वृत्ति है। अब उसमें जो लहरें या तरंगें हैं जो समुद्र में पैदा होती हैं, हम अगर कहीं उनको दूर कर दें तो सतह बराबर हो जायेगी। फिर हमको मौक़ा मिलेगा कि इन बंदिशों को काट सकें, क्योंकि हममें ताकत भी आजावेगी। असलियत जो दिल में छिपी हुई है, इसी को पौराणिक रूप से विष्णु करार दे दिया है। हम जब वासनाओं का साप दूर कर देते हैं, तो विष्णु भगवान के दर्शन प्राप्त हो जाते हैं, यानी हममें भी यह ताकत आ जाती है कि हम दूसरे की रूहानी परवरिश (आध्यात्मिक पालन पोषण) कर सकें। अब चुंकि विष्णु का काम पालन पोषण है, लिहाजा उसके लिए लक्ष्मी या कंचन की भी जरूरत है। विष्णु भगवान की शक्ति भी आप पर रोशन हो गई कि बेचारे पालन-पोषण में दुःखी हैं। मैंने बहुत संक्षेप में लिखा है क्योंकि दिमाग़ ज्यादा काम नहीं देता कभी ज़बानी समझ लेना, अगर चाहो। जो व्यक्ति विष्णु भगवान् की पूजा करना चाहते हैं वह अपने दिल की तरफ़ रुजू हों, बस यही उनकी पूजा होगी। जब उस चीज को तय कर लिया तो और चीज शुरू होने लगती है।

—एक अभ्यासी को लिखे गये पत्र से उद्धृत

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः

मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है।

(हरिदत्तसिंह प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
युवराजदत्त महाविद्यालय, लखीमपुर खीरी)

इस दृश्य-जगत में, मन से बढ़कर शक्तिशाली और कोई पदार्थ नहीं है। इसमें ब्रह्म की अनन्त शक्तियां निवास करती हैं। इसलिये वह सब कुछ करने में समर्थ है। मन ही जगत की सृष्टि करता है और वही उसका संहार भी। "मन ही जगत हो जाता है मन ही वासना रहित होने पर ब्रह्म हो जाता है।" शुद्ध एवं निर्मल मन जिस वस्तु की जैसी भावना करता है, वह निश्चय ही वैसी ही होजाती है। महर्षि वशिष्ठ ने कहा है कि :—

मनो यदनुसंधत्ते तदेवाप्नोति तत्क्षणात्।

(यो० व०)

अर्थात् वह जिस वस्तु को प्राप्त कर लेने का निश्चय कर लेता है, वह उसे अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। अतः इससे स्पष्ट है कि मन के ही हाथ में 'बन्धन' और मोक्ष है और वही मनुष्य के सब प्रकार के सुख दुखों का स्रष्टा भी है।

अब प्रश्न यह है कि मन है क्या वस्तु? परम तत्व का साक्षात्कार करने वाले ऋषियों का मत है कि ब्रह्म ही अपनी संकल्प शक्ति द्वारा सृष्टि करने के लिये मन के आकार में प्रगट होता है। उनका कथन है कि चैत्य (दृश्य) से रहित चित (आत्मा) सनातन ब्रह्म है। वही चित् (आत्मा) चैत्य (दृश्य) युक्त होकर यह मन कहलाता है।

रह जावें ऐसी एक मिसाल कबीर की भी मिलती है कि उन्होंने एक समय पर ऐसा ही किया था।

यह तो Negation का हाल मैंने बताया है मगर Negation रहते हुए भी उसको अगर भूल जाये, यानी उसका एहसास न रहे, तब तो मैं यही कहूँगा कि उसमें एक क्षण में Spiritnel Giant बनाने की ताकत पैदा होती है, और भाई मुझे कहीं इससे आगे चलने वाला पैदा करदे। अफसोस है कि मैं यह चीजें किसको दिखाऊँ। मुझे इस हद तक कोई हिम्मत नहीं दिलाता। ईश्वर करे यदि इससे ज्यादा न सही, तो इतनी ही चीज़ मुझसे कोई ले ताकि मैं बहुत न सही, गुरु ऋण से कुछ थोड़ा ही उद्धार हो सकूँ। वाकया यह है कि हाथ मल के रह जाता हूँ, और फिकर यह है कि कहीं यह चीज़ मेरे साथ ही न चली जाये। इससे ज्यादा न सही, कम से कम इतनी ही चीज़ पैदा करलें जिससे दूसरों को इसी हद तक ले आवें मैं तो इस चीज़ को देने के लिये यहाँ तक भरा भरा रहता हूँ कि कोई मुझसे अपने घर का कुल काम जो नौकर करते हैं ले ले; और इसके बदले में मुझसे यह चीजें ले ले। मगर भाई मैं एक मजमून के तरीके पर यह चीजें कह जाता हूँ। मुमकिन है इसी लिए दूसरों पर इसका कुछ असर न रहता हो।

जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है कि यदि ईश्वर इससे आगे चलने वाला पैदा कर दे तब तो मैं अपनी किस्मत की सराहना करूं, और ऐसी उजड़ी हुई बस्ती की सैर कराऊं जहा जनून का

भी गुजर नहीं। मगर भाई क्या करूं इन्तिहा मुझको कहीं मालूम नहीं पड़ती। इससे आगे कोई मुझसे सीखे जाये और मैं सिखाये जाऊं। भाई Negation भी हमारा लक्ष्य नहीं है। हमारा जो लक्ष्य है वहाँ के लिये हम इतना ही कह सकते हैं कि सिर्फ भूमा का ही गुजर है, यानी यहाँ पर जात ही जात है। लोग मोक्ष (Liberation, के पीछे पड़ते हैं, और अच्छा है कि इससे वाकई आवागमन से छुटकारा मिल जाता है, और लोग इसी का उपदेश करते रहे। जरा कोई निगाह उठाकर तो देखे, तो पता चलेगा कि Liberation केवल उसका तलछट है। कभी कभी कुछ इशारा मेरी जबान से उस हालत का निकल भी गया। कि Polished Spiritualist (कलई दार अध्यात्मवादी) के सामने, तो नतीजा यही हुआ कि उसने मुझे नावाकिफ़ (अज्ञानी) ही समझा। यही वजह होगी कि ऐसे रहस्य बतलाये नहीं जाते, और मैं तो भाई बतला देता हूँ। उनकी राय मेरे बारे में बहुत कुछ सही है। अगर मुझमें बाक़फियत ही होती, तो मुमकिन था कि इस हालत तक न पहुँच सकता, क्योंकि यहाँ पर नावाकिफों का ही गुजर है जरा सोचो तो सही; (मुमकिन है यह कुफ्र हो) कि यह शब्द क्या ईश्वर की असल तारीफ में नहीं आता। लोग इसको सोचने ही क्यों लगे। उनके ख्याल में तो क्षीर सागर और विष्णु भगवान और लक्ष्मी घूम रही है। हालाँकि वह यह नहीं समझे कि यह चीज कैसे आ गई। भाई यह सब दिल की हालते हैं, और इसीमें विष्णु भगवान बेचारे मजबूरन रहते हैं। उनको कोई ऐसा नहीं मिलता कि इस हालत से निकाले। बंधन की चीज का ख्याल ही बंधन में एक कड़ी लगा देता है।

दे दे और उससे वही बातें कुदरती तौर पर निकलने लगें जो वह जानना चाहता हो। यह कसौटी है पूर्ण आदमी की जाँच की।

मेरा तरीका यही है कि शुरू से मनुष्य शून्य बनता चले और ज़ाहिर भी है कि गुरु महाराज ने (कहाँ तक उनको धन्यवाद दिया जावे) जब मुझे बिलकुल ऐसा ही बना दिया तो फिर वही बीज जाना भी चाहिये। अब अभ्यासी Negation और उसके बाद वाली हालत के क़ाबिल कब बनता है और कैसे उस हालत को पहुँचता है? एक तो जवाब इसका यह है कि यदि गुरु Guide इस हालत को पहुँचा हुआ है तो उसकी मेहरबानी से वह पहुँच सकता है। अभ्यासी को यह चाहिये कि उसे यह हालत देने पर मजबूर कर दे। अब यह कैसे हो सकता है? यह सब लोग जानते है, जिसके पास अकल है। वैसे तो भाई मेरा यह हाल है कि मैंने बहुत कुछ approach एक साहब को उनसे डाट डपट पाकर दी थी और वह इसलिए कि मैं उनको खुश रखना चाहता था और वह उम्र में मुझसे बहुत बड़े भी थे। किन्तु ईश्वर को धन्यवाद है कि मैं उनको केवल A B C D ही बता पाया था कि उनका रंग बदलने लगा और उन्होंने खुद बखुद ऐसी बातें पैदा कर लीं कि अपने आप इस कदर नीचे आये कि किसी दीन के न रहे। मैं उनकी अब भी इज्जत करता हूँ और बड़ा समझता हूँ और मेरे दिल में उनसे इतनी मोहब्बत भी है जितनी कि एक इन्सान को इन्सान से हो सकती है और अब दूसरी कमजोरी यह है कि अभ्यासी को मैं ठहरा हुआ नहीं देख सकता, इसका फायदा भी लोग उठा जाते हैं और जल्दी तो मेरे मिजाज में है ही। दूसरी

चीज जो Negation और उसके ऊपर तक पहुँचा सकती है वह तड़प और बेक़रारी है और भक्ति और प्रेम तो होना ही चाहिये। अगर प्रेम पैदा हो जाता है तो बेचैनी होना जरूरी है।

Negation का खास तौर पर और सब आध्यात्मिक बातों का देने वाला तो ईश्वर ही है, यह तो सभी मानते हैं; मगर भाई मुझे तो जो कुछ मिला वह अपने गुरु महाराज से ही मिला। यह अवश्य है कि ईश्वर का मुझे बहुत ज्यादा शुक्रिया अदा करना चाहिए इस बात का कि मेरी तबियत उसने ऐसी बना दी कि ऐसे बड़े महात्मा से मैं रुजू हुआ। ईश्वर से काम निकालने का तरीका यही है जो हम अपने गुरु के साथ करते हैं और उससे सीधे (Direct) प्रेम भी पैदा हो सकता है और यह बहुत अच्छी चीज है। किन्तु इस चीज के करने वाले बहुत कम हुए हैं। यद्यपि इससे अच्छा तरीका कोई भी नहीं हो सकता। अभ्यासी को चाहिए कि अपनी लगन बढ़ाता जाये, और अगर ज्यादा न सही, तो अपने Guide के प्रति इतना ही समर्पण (Submission) रक्खे, जितना स्कूल में बच्चे अपने उस्ताद के प्रति रखते हैं, और भाई इतना कर्त्तव्य भी है। इस चीज से Guide को कुछ नहीं मिल जाता, बल्कि अभ्यासी को यह फायदा होता है कि वह चीज आने के लिए पात्र बन जाता है। जो वास्तव में Guide है उसको अपनी इज्जत या शोहरत की आशा नहीं होती। बल्कि मिसालें ऐसी भी मिलती हैं कुछ फकीरों की जिन्होंने जाहिरा बातें ऐसी भी की हैं, जिससे जनता उनकी इज्जत न करे, और शिष्य भी छँट छटा कर खास २

जाता है जब तक इसको गति को रोककर उसकी दिशा बदलने की चेष्टा न की जाय। यदि हमें आभ्यंतरिक यात्रा में अथवा प्रत्यावर्तन में सफल होना है तो हमें चाहिए कि मन को उन उपाधियों तथा साँसारिक प्रभावों से नितान्त रहित कर दें जिनकी कि उसने सृष्टि कर डाली है। यह कार्य सरल होते हुए भी कठिन है। न जाने कितने दिनों से मन को इतस्ततः विचरण करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया गया है जिसके परिणामस्वरूप इसने अपना काम करना छोड़कर इन्द्रियों को अपनी ओर से उन्मुक्त कर दिया है जो वासनाओं द्वारा स्वर्गमयी भूमि को नरक रूप में परिणत कर देती है। इसी स्थित का चित्रण करते हुए भक्तप्रवर तुलसी ने अपने इष्ट राम से अपने दारुण दुख को दूर करने की भावपूर्ण विनय की है :—

विषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं, होत कबहुँ पल एक।
ताते सहौ विपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक॥
कृपा-डोरि बनसी पद-अंकुस, परम प्रेम मृदु चारो।
एहि विधि बेगि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो॥

मेरा मनरूपी मीन विषयरूपी जल से एक क्षण भी अलग नहीं होता है। इसी से मुझे जन्म-मरण का दारुण दुख सहना पड़ रहा है। कब से विविध योनियों में जन्म लेता और मरता हूं। इस विपत्ति से त्राण पाने का, बस, एक उपाय शेष रह गया है। वह यह है कि, अब अपनी कृपा की तो बनायें रस्सी और तुम्हारे चरण में जो अंकुश (चिन्ह) है, उसका बनायें काँटा। उसमें परम प्रेम का कोमल चारा चपका दो। बस, फिर मन-मीन को छेदकर

फिरतु माई ईश्वर वशा होगियार है। घेरे आशाओं की इस हद तक इच्छा शक्ति (will) बँधने ही नहीं देता। भगर कहीं दुर्भाग्य (accidentally) बँध जाये, तो घेरी हुआं हुआंरो पक घेरेड में छिप मिल कर बसता है। उसमें यह ताकत पैदा हो जाती है कि शक्ति, विद्युत और महेश्वरी भी उसके इस्तम की ताल नहीं बजते। भगर यह बात यकायक है कि ईश्वर जब घेरी पहिन (approach) के लिए कोई आशाएं देता है, तो वह घेरा हो देता है कि जो ईश्वर की मर्जी है वही काम सिद्ध न हुए करे। फेर में तो यह कहेगा कि यह घेरे आशाएं को बखके छुटे के हाथ में रे देता है, और जिसका भी बखो को है जिसने यथे आशएं यथे युक्त के हाथ में दे दिया है।

इस शून्यता और यथाव को मैं कहीं तक बारीक करूं। यथक में यह चोज कितो घेरेड (यथोग) को इतिहास (यारम्भ) है। न मालूम यथो कितना और जाना है। हेरी बन बोतों पर यजों है कि जो यारम्भिकता से कोई दूर होकर यारम्भिकता का प्रयार एंटरप्राँ पर करते हैं। मैं उनको यात पूर्णता (Perfection) को यहं यवताता हूँ। वेसे तो पूर्ण वास्तव में परमात्मा है, जिसको हमें शब्दों में जाव ही जाव कह सकते हैं, और इसी यथ में यह शब्द यहां पर इस्तेमाल किया है। मगर वहां, जहाँ तक पूर्ण तौर पर बन्दे की पूर्णता कहीं जाती है, वह यह है कि मनुष्य (Nature) से जितनी बातें पैदा हुई या रख में मोजूद हैं, वह अज्ञानी (Ignorant) रहते हुए बबके बाकेक (परिचत) हो। कोई ज्ञान या विद्या (Science) बबके न बचे। वहां कोई ज्ञाँन

विषय सरि से बाहर निकाल लो, जिससे वह एकवृत्त होकर सदा तुम्हारा ही भजन करता रहे। मेरा दारुण दुःख एक इसी उपाय से दूर हो सकता है।

मन बड़ा चञ्चल है। जिस प्रकार सिंह पिंजरे के भीतर कहीं पर भी स्थिर नहीं रहता, इधर उधर डोलता ही रहता है, उसी प्रकार मन भी अपनी चंचल वृत्ति के कारण, और चिन्ताओं के समूह से लदा हुआ कभी भी स्थिर नहीं रहता। मन की यह चंचलता ही मनुष्य के दुखों का मूल कारण है। जो चित्त वासनाओं की पूर्ति के लिये इधर उधर दौड़ता हुआ भटकता रहता है उसे कभी भी चैन नहीं मिलती है। आशा के पाशों से बंधे हुये, वासना की रस्सियों से जकड़े हुये जीव, अनेक यातनायें भोग रहे हैं। प्रत्येक जीव को, हर एक वासना, उसके लिये एक बाँधने वाली डोरी है, जो कुछ काल के लिये, उसे उस विषय से अवश्य ही बाँधेगी जिसकी वह कामना करता है वासना और कल्पना ही जगत के प्रसार और जीव की भली बुरी गति के रहस्य हैं। इसी तथ्य का प्रतिपादन निम्नांकित पंक्तियों में मार्मिकता के साथ हुआ है

जहँ मन राखे जीवता, मरता तिस घरि जाइ।
दादू बासा प्राण का, जहँ पहली रह्या समाइ। (दादू)

(जीते जी जो अपना मन जहां रखता है वहीं पर अपने मरने पर प्रवेश कर जाता है।)

अतः स्पष्ट है कि हमारी मनस्कामनायें ही जन्मादि की

मुख्य कारण हैं। मन में जगत के पदार्थों की वासना के दृढ़ होने का ही नाम बन्धन है।

पदार्थ वासनादार्ढ्यं बन्ध इत्यभि धीयते। यो० व.

कठोप निषद् में इसीलिये कहा गया है:—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

अर्थात् जब इस जीव के हृदय में वास करने वाली वासनाओं का परित्याग हो जाता है तभी मर्त्य (मरने वाली) जीव अमृत होकर ब्रह्मत्त्व को प्राप्त होता है। वासनाओं से निर्युक्ति पाने वाला चित्त शुद्ध ब्रह्म बन जाता है।

महर्षि वशिष्ठ जी ने, शुकोपाख्यान द्वारा इसी सत्य का रोचक ढंग से वर्णन किया। मर्यादा पुरुषोत्तम राम को उपदेश देते हुये उन्होंने कहा था कि "वासना और संकल्प के अनुसार ही मनुष्य की गति होती है; इसीलिये निर्वाण-पद प्राप्त करने की इच्छा करने वाले मनुष्य को संसार के विषयों के लिये, वासना नहीं करनी चाहिए और किसी भी सांसारिक सुख अथवा भोग का अपने मन में संकल्प उदय न होने देना चाहिये। प्रभाव यह है कि जितने सुख दुःख, संकल्प विकल्प, शोक सन्ताप आदि जीव को हुआ करते हैं वे सब मन की ही बदौलत होते हैं। मन के शान्त हो जाने पर ये सब द्वन्द्व भी छूट जायेंगे।

जौ निज मन परिहरै विकारा।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख संसय शोक अपारा।

यदि यह मन अपने विकारों को छोड़ दे, तो फिर भेद-भाव

से उत्पन्न होने वाले सांसारिक दुःख, संशय और बड़ा भारी शोक जीव को क्यों हो ? जीव का मन संसार के स्वर्ग नरक आदि याक्त पदार्थों का भण्डार है:—

असन, वसन, पसु वस्तु विविध बिधि, सब मनि मँह रह जैसे।
सरग नरक चर अचर लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे॥
बिटप-मध्य पुतरिका, सूत मह कंचुकि बिनहिं बनाये।
मन मह तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाये॥
(बिनय पत्रिका)

अर्थात् जैसे मणि के बीच में भोजन, वस्त्र पशु और अनेक प्रकार की चीजें रहती हैं, वैसे ही इस मन में स्वर्ग, नरक जड़ चैतन्य और बहुत से लोग सन्निहित हैं। जैसे पेड़ अथवा काठ के बीच में पुतली और सूत में वस्त्र, बिना बनाये ही, पहले से विद्यमान रहते हैं। उसी प्रकार इस मन में समय समय पर अनेक शरीर जो उसमें लीन रहते हैं, व्यक्त हो जाते हैं। इस मन में जैसी इच्छा होगी, वैसा ही शरीर धारण करना होगा।

अतः मनुष्य का भौतिक मनुष्य भी, मन का ही बनाया हुआ एक यंत्र है। जिस प्रकार रेशम का कीड़ा, अपने निवास के लिये, अपने आप ही, अपना कोष तैयार कर लेता है। वैसे मन ने भी यह शरीर अपनी वासनाओं की पूर्ति करने के लिये बनाया है। मन ने अपनी कल्पना तथा वासना द्वारा ही यह शरीर रूपी बन्धन तैयार कर लिया है। मन की मूर्खता से ही, मनुष्य के दुख गिरि शृंग की भांति बढ़ते रहते हैं क्योंकि शुभ और अशुभ कर्मों का करने वाला मन ही है। मन की कुचालों से परवश हुआ जीव

नाना प्रकार की साँसारिक यातनायें भोग रहा है। मनुष्य का आगामी जीवन भी उन प्रवृत्तियों की योग्यताओं द्वारा निर्धारित होता है जिन्हें कि वह वर्तमान जीवन में प्राप्त किया करता है। इसीलिये गीता में योगिराज कृष्ण ने अर्जुन को "सुख दुखे समे कृत्वा लाभालभौ जयाजयौ" का उपदेश देते हुए समरसता की स्थिति प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया था। जब तक संस्कार है तभी तक भोग है। मन के निर्लिप्त होते ही भोगों के बन्धनों से भी जीव मुक्त हो जाता है। मनुष्य को संसार में निर्लिप्त भाव से रहते हुये अपनी खोई हुई नैसर्गिक या चेतनावस्था प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये। मन इस अवस्था को प्राप्त करने में साधक भी है और बाधक भी। इसीलिये सन्तों ने कहा है कि:—

जग मांहीं ऐसे रहौ ज्यों अम्बुज सर माहि।
रहै नीर के आसरे पै जल छूवत नाहि॥ (चरनदास)

अर्थात् संसार में उसी प्रकार रहना है जिस प्रकार कमल कीचड़ व पानी में उत्पन्न होकर भी उससे लिप्त नहीं होता बल्कि अछूता रह जाता है।

यह हमारा दृश्य-जगत जिससे कि हम छुटकारा पाना चाहते हैं चित्त (मन) की इच्छाओं द्वारा ही निर्मित है, और इच्छाओं के न रहने पर यह लीन हो जाता है।

इदं चित्तेच्छयोदेति लयिते तदनिच्छया। (यो० व.)

चित्त द्वारा रचा हुआ यह संसार महान स्वप्न है। किन्तु व्यक्त जगत की सत्ता, मिथ्या होते हुये भी, अज्ञानवश वास्तविक प्रतीत होती है। यद्यपि उसके ये साँसारिक बन्धन काल्पनिक ही हैं तथापि मोहाविष्ट मन ने दृश्य-जगत के समान ही, उन्हें भी

सत्य मान लिया है। इसीलिये मोक्ष प्राप्ति के लिये उसे प्रयत्न करना पड़ता है। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि बन्धन और मोक्ष दोनों ही अज्ञानियों की मिथ्या कल्पनायें हैं। बन्धन और मोक्ष दोनों अज्ञान और भूल के कारण हैं। वास्तविक दृष्टि से देखने पर वस्तुतः न बन्धन है और न मोक्ष। जो कभी भी बन्धन में नहीं पड़ने वाला है, वह भला कैसे बद्ध हो सकता है? जो कल्पना द्वारा बध हो जाता है उसी के लिये मुक्ति भी है वास्तव में न बन्धन है और न मुक्ति है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि मन के द्वारा रचे हुये इन्द्रजाल से, कि जीव जन्म जन्मान्तर से उलझा हुआ चला आ रहा है, उसे किस तरह निकाला जाये। इस सम्बन्ध में योगवशिष्ट में दिये हुये इक्ष्वाकु और मनु के संवाद के कुछ मार्मिक स्थल दृष्टव्य हैं।

मनु ने कहा कि हे राजन! जो कुछ यह जगत दीख रहा है वह सब देखने वाले की मन अवस्था पर ही निर्भर है। जब तक मन में संकल्प विकल्प उठते हैं, और दृश्य पदार्थों की वासना है, तभी तक जगत का अनुभव होता है और जब आत्मपद में स्थित होने की वासना होगी, और मनुष्य उसमें स्थित होने का प्रयत्न करेगा, तब जगत का भान नहीं होगा।" सारांश यह है कि मन में जब तक अहंभाव है, 'दृश्य-जगत' के साथ जब तक आत्मभाव है (यह मेरा है) तब तक यह भ्रम बना ही रहता है और भ्रम ही दुखों का मूल तथा जीव के बन्धन का सबसे बड़ा पुष्ट कारण है।

"जिसके मन में भोगों के प्रति लालसा नहीं है, जो शीतल, मल रहित और विरक्त है, जिसने आशा रूपी पाशों को तोड़ दिया, उसके लिये यह भ्रम क्षीण हो जाता है।" जब मन चंचलता से मुक्त होकर आत्मभाव में स्थित हो जाता है तब इसे शास्त्र मोक्ष कहते हैं। मन के शान्त होने पर इन्द्रियाँ भी शान्त हो जाती हैं। जीव मन के गुणों को धारण करता है और उसे विभुत्व का अनुभव होने लगता है। मन की निर्मलता एवं शुद्धता के बिना जीव की सद्गति सम्भव नहीं है। शुद्ध मन में ही आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है ब्रह्म की अव्यक्त सत्ता यद्यपि आकाश पत्थर दीवार आदि सब ही वस्तुओं में विद्यमान है, तब भी जैसे केवल शीशे में ही वस्तुओं का स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही परमात्मा का दर्शन केवल निर्मल चित्त में ही होता है।

अतः यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है। सहज मार्ग की साधना मन की साधना है। जिसके द्वारा साधक अत्यन्त अल्पकाल में गुरुकृपा से निर्मलता और शुद्धता को प्राप्त कर लेता है।

जब चित्त, वृत्ति हीन, होकर चित्त भाव को त्याग देता है तब अपने भीतर मोक्षमयी आत्म सत्ता का अनुभव करता है।

चित्तवृत्ति विहीनं ते यदा यातमचिन्तताम्।
तदा मोक्ष मयीमन्तः सत्तामाप्नोषि तां तताम्॥

५-२१-२६ (यो० व.)

पूजा और कर्म

(काशीराम अग्रवाल)

पूजा तो अधिकतर सभी लोग करते हैं मगर पूजा के अर्थों से अधिकतर लोग अनभिज्ञ होते हैं। पूजा क्यों करते हैं, न करने से क्या हानि और करने से क्या लाभ होता है, शायद उत्तर तो सभी दे ही देंगे मगर अपने जीवन में उन बातों को उतारना नहीं चाहेगें। इसका नाम पूजा नहीं है कि हम मन्दिरों में जाकर पूजा करें और दुकानदारी के समय बेईमानी करें या आफिसों में जाकर रिश्वत लें। क्या पूजा हमें यह सिखाती है कि हम बेइमानी करें, चोरी करें, लोगों को धोखा दें, कम तोलें। मगर भाई ईश्वर की पूजा में यह छूट तो कहीं नहीं दी गई है कि मन्दिरों में जाकर पूजा करें और मन्दिर से बाहर निकलते समय चाहें किसी के जूते चुरा ले जायें. चाहें रिश्वत लें या बेइमानी करें या लोगों को धोखा दें।

पूजा तो सबसे बड़ी यही है कि हम अपने कर्त्तव्य का पालन सही ढंग से अदा करें। अगर हमारे कर्त्तव्य में कहीं पर त्रुटि है तो चाहे हम तीर्थों में घूमते रहें या मन्त्रों का जाप करते रहें या जंगलों में जाकर ध्यान लगायें या मन्दिरों में जाकर घन्टों पूजा करते रहें, कोई लाभ नहीं। हाँ अपने आप को धोखा दे लेना है। कर्म को गीता तथा रामायण आदि ग्रन्थों ने भी प्रधान माना है, फिर वे लोग कर्म को महत्व क्यों नहीं देते ? कर्म चाहे

जैसा भी करें मगर पूजा अति आवश्यक है। इस थोथी पूजा से कोई लाभ नहीं। हाँ, कोई भूल से अपराध हो गया है तो ईश्वर को सर्वत्र समझकर अपराध की क्षमा मांगे और आगे वह अपराध न होने पाये इसका ध्यान रखें। इसके लिये हृदय से पूजा करनी होगी, कर्त्तव्य को सही हालत में लाना होगा, सचाई आप का मुख्य उद्देश्य होगी, तब जीवन में पूजा का सही फल प्राप्त हो सकता है। यह सभी बातें तभी आप में आ सकती हैं जब कि आप सच्चे पथ प्रदर्शक को खोजेंगे और उनके बतलाये हुये साधन पर चलेंगे और अभ्यास करेंगे।

लोगों के पूछने पर कि आप पूजा क्यों करते हैं जब कि पूजा करते रहने पर भी आप को नस नस में बेईमानी भरी हुई है आप अभ्यास करिये ताकि नस नस में ईमानदारी भर जाय और यह बात आ जाना ही सबसे बड़ी पूजा है। तो उत्तर मिलता है, हम तो पूजा इसलिये करते हैं कि जो दिन भर में बेईमानी या बुराइयां की हैं वह सब क्षमा हो जांय। उन्हें पता नहीं क्षमा तो भूल से किये हुए अपराध की होती है जिसके हृदय में बुराइयाँ दूर करने की भावनायें ही नहीं वहां क्षमा का सवाल ही क्या ! ईश्वर का नियम एक बिजली के तार के समान है उसे जो छुयेगा चाहे बूढ़ा हो चाहे जवान, चाहे गरीब हो चाहे अमीर, सभी के छू देने पर करेन्ट लगेगा वहां क्षमा शब्द के लिए गुञ्जाइश नहीं, गलती का नतीजा सबके लिये बराबर है।

लोग कहते हैं मैं दिन भर ईश्वर की पूजा करता हूँ, मेरा ईश्वर में प्रेम है, मैं जाप भी दिन भर करता हूँ। अब आप बतला-

इसे जो प्रेम करता है उन्हें अगर प्रेम की खबर है तो वह क्या प्रेम हुआ। वह तो धोखा है, खुदगरज़ी है। माँ का बच्चे में कितना प्रेम होता है, स्त्री का पति में, मगर माँ बच्चे से या बच्चा माँ से कभी नहीं कहता कि मैं माँ से बहुत प्रेम करता हूँ या माँ बच्चे के लिये कभी नहीं कहती कि मैं बच्चे से बहुत प्रेम करती हूं। माँ का हर काम प्रेम से लिपटा हुआ होता है। माँ को यह भी पता नहीं रहता कि मैं बच्चे से प्रेम करती हूं। जहाँ प्रेम होता है वहाँ प्रेम की खबर ही नहीं होती।

आप ऐसे व्यक्तियों को भी देखते होंगे जो उम्र भर पूजा करते आये मगर मन की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। बगैर गुरू के बिना सही रास्ता मिलना कठिन है। अगर घर पर किताबें पढ़ने से ही ज्ञान आता होता तो स्कूलों में कोई नहीं जाता। अगर मन्दिरों में जाने मात्र से ही मनुष्य का सुधार हो जाता तो आज एक भी व्यक्ति बेईमान न होता। मैं एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण दे रहा हूं जो जीवन भर पूजा करता आ रहा है, अब बुढ़ापे में भी पूजा करता है, मस्तक पर लम्बा तिलक, गले में मोटी माला, पहनावा बिलकुल सादा। मैं एक दिन सुबह २ उनके पास सौदा खरीदने चला गया। तराजू बाँटों को प्रणाम किया, दो चार बार जोर २ से ईश्वर का नाम लिया और चने की ढेरी जो लगा रखी थी मुझे चने तोलने लगा। ढेरी पर ऊपर पंजाब का बढ़िया चना और ढेरी के अन्दर घुना हुआ खराब चना तथा मिट्टी आदि छिपा रखी थी, झटपट तोलकर बोरी में डाल दिया। वजन भी एक मन में तीन पाव कम तोला और दे दिये। मैं देखता रह गया इस भक्त

जी के हाथ की सफाई को, पूरा बाजार छोड़कर तो मैं भक्त जी के पास तिलक माला देखकर आया था कि इनके पास ईमानदारी होगी मगर पक्का बेईमान निकला। भक्त जी राम राम का जाप मुख से करते जा रहे थे। मैंने कहा भक्त जी ईश्वर ईश्वर तो पीछे रट लेना पहले मुझे पूरा वजन तोलकर दो और जैसा ऊपर से नमूना दिखाया है वैसा ही चना दो। बड़े मीठे शब्दों में उत्तर दे रहे हैं— दयालु, ले जाओ, बहुत बढ़िया चना है देखने की जरूरत नहीं, विश्वास पर ले जाओ, विश्वास भी तो कोई चीज होती है। नारायण, नारायण, मैं क्या आपको खराब चीज दे सकता हूं। पंजाब का चना दिया है, देखो मत—बस ले जाओ, लो मैं बोरी का मुंह बाँधे देता हूँ यह नौकर आपके घर पहुँचा आयेगा। दयालु डरो नहीं, ले जाओ। अब आप देखिये पूजा का कितना बढ़िया तरीका है। मेरा मतलब यह नहीं है कि मन्दिरों में जाकर पूजा करना व्यर्थ है बल्कि पूजा करने के तरीके बहुतों के गलत हैं जैसा कि ऊपर भक्त जी के बारे में उदाहरण दिया गया है।

एक विचार

(जगदीशप्रसाद अग्रवाल)

जब मनुष्य अपने आपका सूक्ष्म-निरीक्षण (Self-Scrutiny) करता है तो उसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसे अपने आपको जान लेने के प्रयत्न से लेकर सामाजिकता, राष्ट्रीयता ईश्वर या सृष्टि आदि तक को जान लेने के प्रयत्नों के प्रति कोइ

स्थाई दृष्टिकोण तब तक नहीं बना लेना चाहिये, जब तक वह उस वस्तु के स्वरूप को नहीं जान लेता, जिसके द्वारा उसे कुछ भी करने की प्रेरणा मिलती है। चेतना की प्रेरणाओं पर क्रियाशील बने रहने के ही फलस्वरूप मनुष्य ने धर्म, समाज, राष्ट्र, साहित्य, विज्ञान, दर्शन और संगीत आदि विषयों को जन्म दिया। मनुष्य इन्हीं विषयों को मनन करता गया जिससे इनके क्षेत्र विस्तृत होते गये और इनकी समस्यायें बढ़ने लगीं। आज इन्हीं विषयों का प्रभाव इतना व्यापक हो गया है कि हमारी स्वच्छन्द जिज्ञासा शक्ति पर इन्हीं विषयों की समस्याओं का प्रभाव जमने लगता है जिससे हमारी मौलिक (original) जिज्ञासा शक्ति पर आवरण पड़ता जाता है। दूसरे शब्दों में हर मनुष्य अब इन्हीं विषयों के अन्दर ही सोचने का अभ्यस्त होने लगा है और इसे अपनी मौलिक जिज्ञासा समझकर इन्हीं से जूझना अपना एकमात्र कर्त्तव्य मानने लगा है।

फल यह होने लगा कि हम अपनी इन्हीं विषयों की सफलता और असफलता के आधार पर मानव जीवन के प्रति अपने विचारों को दृढ़ करने लगे। लेकिन इन्हीं विषयों के अन्दर ही किसी को अपने जीवन का लक्ष्य बनाना और केवल इन्हीं विषयों की सीमाओं के भीतर की ही वस्तुओं को तर्क की कसौटी पर कस कर सृष्टि के प्रति अपना विचार क़ायम कर लेना कहाँ तक ठीक है जब कि हमें यह अवगत नहीं कि हमारी कुछ भी करने की प्रेरणा का स्वरूप क्या है? दूसरे शब्दों में मानव के द्वारा निर्मित एवं विकसित आज की मानव समस्या की वास्तविकता और

अवास्तविकता में उलझे रहने से हमारा क्या प्रयोजन जब कि हम इसके मूल उत्पादक बिन्दु के प्रति ही सन्दिग्ध हैं। यहाँ हमें इसे अपनी किसी भी प्रकार की पलायन प्रवृत्ति नहीं समझलेनी चाहिये परन्तु यह आवश्यक है, कि हम किसी क्रिया पर कोई स्थाई दृष्टिकोण कायम कर बिल्कुल कट्टर न बने।

आज सम्पूर्ण पृथ्वी के विद्वान एवं मानवता के रक्षकों की समस्या केवल इन्हीं विषयों में बँटी हुई देखते हैं और इन विषयों में वे इस प्रकार मस्त हुए जा रहे हैं कि "मनुष्य जीवन की मूल समस्या" को समझने में उनका दृष्टिकोण संकीर्ण होता चला जा रहा है हम आज अपने विचारों की स्वतंत्रता से हाथ धोते जा रहे हैं। धर्म वर्ग अपने विषय के प्रति कट्टर हो गया है और विज्ञान वर्ग अपने विषय की ओर लेकिन इनके बीच फँसी मानवता किस अज्ञात व्याकुलता से उद्विग्न है, यह ज्ञात नहीं। वास्तव में युग २ से ही मनुष्य जीवन की 'मूल समस्या' क्या है इसको गम्भीरता से सोचने में विस्तृत दृष्टिकोण का अभाव रहा है।

आज हम मानव जीवन की मूल समस्या को पूर्णतः न समझ कर उसका समाधान करने में व्यस्त हो गये हैं, जो हमें वास्तविकता से कितना परे रख रहा है। अन्तर्यामी मेरे गुरू महराज श्रद्धेय 'बाबूजी, का कथन है 'We forget that pains and miseries are only the symptoms or disease but the disease lies else where" ऐसी अवस्था में उन मानवता के रक्षकों को क्या कहा जाय जो अपनी समकालीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर धार्मिक नियमों और सिद्धान्त के

ग्रन्थ के ग्रन्थ मनुष्य के गले उतारने के लिये भाषण देते रहते हैं. उन साहित्यिकों को जो आदर्श और प्रगतिशीलता पर पन्ने के पन्ने रंग रहे हैं और उन वैज्ञानिकों को जो अपनी मिलनी सफलताओं के मद में झूमते हुए किसी अज्ञात दिशा की ओर बढ़ रहे हैं।

आज हम जिस पद्धति पर मानव का कल्याण करना चाहते हैं उसमें मानव की असीमता खण्डित हो रही है और मानव अपनी समग्रता को खण्डित देखकर बेचैन हो उठा है। व्यक्ति का समग्र व्यक्तित्व चार-चार होकर इन विभिन्न विषयों में बिखर गया है उसे समेट कर हमें उसे किसी एक ही सत्य के बिन्दु पर केन्द्रित करके समझना होगा और अपनी चेतना के स्तर पर हमें अपनी आन्तरिक प्रगति के समानान्तर ही व्यवहारिक बने रहना होगा। आज हमें अपनी दृष्टि अन्तर्मुखी बनानी ही पड़ेगी और अपनी प्रेरणाओं के मूल की खोज में चेतना के भीतरी स्तर तक जाना पड़ेगा। मनुष्य चेतना के स्तर पर किन किन वस्तुओं से प्रेरित होता है इसे जानने के हेतु जब हम अपने हाथों में मशालें लेकर अपनी चेतना से अन्दर जाने वाली अन्धेरी गुफाओं में पैठ जावेंगे तो हम कितने ही आश्चर्यों का उद्घाटन कर सकेंगे जो कदाचित हमारी चन्द्रलोक और मंगल की यात्राओं से कहीं अधिक आश्चर्यजनक होंगे।

आज हमारा "मिशन" मनुष्य को अन्तर्मुखी बनाते हुए उसे ऐसी ही यात्रा में अपनी Transmission शक्ति द्वारा सहायता प्रदान कर रहा है। लेकिन यह वस्तु शायद इस युग के उन आलोचकों को अच्छी न लगे जो "प्रगतिवाद" का झण्डा हाथ में लेकर राजनीतिज्ञों के नारों के साथ अपनी आवाज बुलन्द किये जा रहे हैं। वास्तव में उन्होंने प्रगति का अर्थ केवल बाह्य रूप में ही माना है और अन्तर की प्रेरणा शक्ति के मूल की उपेक्षा कर उसे भुला देना चाहते हैं। जब तक प्रत्येक मनुष्य

अपने अन्तर्जगत की सूक्ष्म प्रवृतियों के उतार चढ़ाव और उत्तरोत्तर विकास पर अपना ध्यान नहीं जमाए रखेगा तब तक हम वैज्ञानिक ढगों को अपनाकर कभी भी मानव जीवन में, राष्ट्र-राष्ट्र में शान्ति सामंजस्य और कल्याण की स्थापना नहीं कर सकते।

आज राजनीति और विज्ञान के महादानवों के गर्जन तर्जन से विश्व का प्रत्येक क्षेत्र कंपित हो रहा है। वर्तमान समय की राजनीतिक स्वार्थपरायणता और विज्ञान की बर्बरता ने कुछ ऐसा कोलाहल मचा रखा है कि हम सबके सब आज बहिर्मुखी प्रवृति को ही अपनाते जारहे हैं। बहिर्जगत की प्रगति को वास्तविक प्रगति माना जाने लगा है और इसमें श्रेष्ठता पाने के लिये तरह २ के कार्यों का सम्पादन हो रहा है। इसी प्रतिस्पर्द्धा के प्रभाव से कुछ ऐसे वातावरण का सृजन हो गया है कि आज हम सबके सब वर्तमान समय की बिना आधार की विचारधारा में बहे जा रहे हैं जिसका न कोई लक्ष्य है न कोई अन्त। मनुष्य पर आज वातावरण का जैसा प्रभाव पड़ा है वैसा ही वह सोचने समझने लगा है और अपने ही विचारों में मस्त हो चला है।

लेकिन वर्तमान युग की बहती हुयी तेज विचार प्रवृति की धार में रुकावट डालने वाले व्यक्ति के प्रति साधारण और हेय का दृष्टिकोण बनाते हुए उसे असफल करार देकर एक बार और हम ऐतिहासिक भूल न कर बैठें, इसकी जिम्मेदारी आज के मानवता के रक्षकों पर होगी। ऐसे वातावरण में जहाँ मनुष्य बाह्य प्रगति की स्पर्द्धा से अपने विचारों में व्यस्त हो उठा है वहाँ अन्तर्जगत के मनीषी श्रद्धेय श्री बाबूजी की इस आवाज पर हमें गौर करना ही होगा। "Now in order to trace out the solution of the problem we should look back to the point where from our existance has started." मनुष्य अस्तित्व के प्रथम केन्द्र को समझने के लिये हमें डार्विन के

विकासवादी सिद्धान्त के रास्ते पीछे नहीं लौटना है और न इतिहास के प्रारम्भिक अध्यायों में सिर खपाना है बल्कि बाह्य प्रगति को जहाँ का तहाँ छोड़कर अन्तर्जगत वाले रास्ते इस बिन्दु को समझलेना है इसी अन्तर्जगत वाले रास्ते पर जिस पर हमारे प्राचीन ऋषि मुनि भ्रमण किया करते थे। आज के युग में 'बाबूजी' ने वैज्ञानिक पद्धति पर इसके बियाबान जंगलों और दुर्गम पहाड़ों को काट कर उसको नया रूप देते हुए एक ऐसी चिकनी सड़क का निर्माण किया है जिस पर चलकर मानव आज फिर एक बार अपनी असली शक्ति को उपलब्ध करेगा।

लेकिन यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मनुष्य जीवन की समस्या को सुलझाने में मानवता के रक्षकों ने एक वृहत दृष्टिकोण को नहीं अपनाया है मानवता के रक्षकों पर उनकी समकालीन परिस्थितियों का प्रभाव परोक्ष रूप से पड़ता रहा है जिससे 'मनुष्य की मूल समस्या' को समझने में वे स्वतन्त्र विचार शक्ति का प्रयोग नहीं कर सके हैं। मनुष्य की समस्या सुधारने के लिये जो समय २ पर भीषण क्रान्तियाँ हुयीं वह इसी का कारण हैं। आज तक मनुष्य की समस्या का जो सन्तोषजनक समाधान नहीं हो सका है इसके मूल में यही कहा जा सकता है कि मनुष्य हमेशा अपने दुःख और कष्टों से प्रभावित होकर उसी को ही दूर करने की सोचता रहा है। लेकिन बाबूजी ने यह सन्देश दिया है कि हमें अपनी समस्याओं के समाधान हेतु अपनी समस्या को 'मनुष्य जीवन' की समस्या के धरातल से समझना होगा। लेकिन यह तभी सम्भव हो सकेगा जब हम अपने ऊपर पड़े प्रभावों की परतों से मुक्त हो जायें और प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित कर सकें, और इसके लिये हमें बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी रूप अपनाना होगा। यदि सचमुच धरती उन सच्चे मानवता के रक्षकों से बिल्कुल खाली नहीं हो गयी है, जिन्हें विश्व में मानव की आन्तरिक प्रगति का अभाव खाये जा रहा है, तो उनसे मेरी यही प्रार्थना है कि वे एकबार अन्तर्जगत के सम्राट श्रद्धेय बाबूजी से सम्पर्क स्थापित कर उनके 'सहज मार्ग' को "स्वतन्त्र मस्तिष्क" से समझने का प्रयत्न करें।

———

A THOUGHT.

(Shri Ram Chandra ji, President)

Sita had a parrot. She loved it much. Her father, Raja Janak loved his daughter Sita greatly, so because of her he began to love the parrot as well. If the parrot was in pain, Sita felt aggrieved and consequently Raja Janak too. That may bring some to the conclusion that a great saint like Raja Janak was unduly attached to the petty parrot. But whatever may be their justification for it, I believe that if one does not feel aggrieved at the distress of others he is deviod of the common sense of humanity or in other words he is not a man at all. I do not therefore agree with those self styled Gyanis who induce people to consider father, mother, brother or son as their enemies. On my part I shall never be prone to follow that principle at any cost. However what may be their view, in my opinion they are but dragging people into entanglements by preaching to them what might finally be ruinous to their sacred cause. The practice if taken up would promote feeling of hatred and repulsion which is equally detrimental to our spiritual purpose.

What is really essential for the pursuit is

the subjugation of the feelings of Maya-Moha or physical attachment. But hatred or repulsion, the very opposite of love and attachment also belongs to the same catagory or more appropriately, is the other extremity of the same thing. Thus the replacement of attachment by its opposite, the repulsion or hatred is absurd and thereby one can never be free from the feelings of Maya-Moha. Its right replacement can be only by duty which is free from both attraction and repulsion. Hence there is no wrong if one treat father as father, mother as mother and son as son looking to the due discharge of duty towards them. He shall then be free from both the feelings. That is in fact what it really ought to be.

I wonder how people begin to take even the very primary attainment as all and sufficient for them and become arrogant of it, though on the other hand they would preach a lot against pride and arrogance from their high platforms. Their unpractical knowledge of the scriptures may probably be responsible for it. Generally those who undertake to coach others in spirituality before they have made any practical attainment in the spiritual field are often a prey to this evil. Pride or arrogance constitutes an additional link in the existing chain of egoism. As a

safe guard against this grossest evil, one should therefore keep himself directly in touch with God, through sincere prayer as it is prescribed in our Mission. If one neglects this elementary principles, I believe he is not the least interested in the pursuit but has taken it up only by way of recreation or amusement.

Firm resolve and dauntless courage are the essential features of a manly character. That is what is required for the final success. But my advice in this respect usually goes off unheeded. It may perhaps be because of my inefficiency in literary knowledge which people generally value most in an accomplished soul. Learning and knowledge have their own importance and people having it are often held in high esteem. I too have a regard for them and for that reason I usually behave submissively with them exhaulting them in all formal ways. But on my part I never did hanker after knowledge, yet to be quite out spoken, I may say that I do not feel myself lacking in knowledge in any respect and I do possess it in its fullness. The reason is that my great Master had transmitted to me every thing that he possessed and that included knowledge as well. For that reason I feel my self immensely

in possession of every type of knowledge from the lowest to the highest, though I may be lacking in the use of the technical words in my expressions. But it is my meekness of nature and disposition which I have copied from my Master, that keeps it veiled under covering. As a matter of fact knowledge picked up from books or scriptures is no knowledge at all in the real sense of the word. It is simply erudition based upon others' experiences–an attainment of the brain alone, and not the practical knowledge based on self experience–an attainment of heart. Let this serve as a guiding light to the true seekers of the real knowledge. As for myself, instead of striving for the attainment of knowledge; I remained ever in pursuit of 'Him'-my Divine Master, who was the store-house of knowledge and perfection. This is the reason why I have never been off from Reality in all my thoughts and expressions. I had entered the field with a burning desire to see the end of love which I bore for him, my Master and I did have it in full.

SAHAJ MARG-A NEW SCHOOL OF THOUGHT.

(Sri Raghavendra Rao, B. Sc. B. E, M. I. S. E.,
Bellary, South India

India has been the homeland of sages and saints. Wonderful freedom of thought and culture was prevalent in this country before the advent of British rule. Right from the closing period of that rule and after its end men of wisdom and vision have been striving to restore the original freedom which is the peculiar characteristic of this great nation.

During the interim period of our history some strange events happened. In order to preserve the intrinsic freedom, our forefathers had adopted peculiar methods of classification, compartmentalisation and separation. The onslaught of the ruling classes influenced their mode to a great extent.

Now we have with us the classical six schools of philosophy, namely;- Nyaya of Gotama, Vaiseshika of Kanada, Sankhya of Kapila, Yoga of Patanjali, Mimansa of Jaimini and Vedanta of Vyasa. The last-mentioned one caught the imagination and fancy of many philosophers and

saints. In it they found the refuge and stronghold to protect our freedom of thought and culture from the onslaught of Buddhism, Jainism and materialism. Although they could absorb Buddhism and Jainism into Hinduism yet when they were confronted with new religions like Islam with her holy Qoran and Christianity with her Bible, they were forced to shield themselves with the Vedas and the Vedanta Sutras of Vyasa. Vedic rituals and Tantric ceremonials proved very effective shields againt the holy crusaders swords and fires.

Shankara was the first to interpret the Vedanta to masses and Ramanuja, Anandathirtha and many other scholar-saints found new schools of thought within the framework of Vedanta. Now we have got many schools of thought like Adwaita, Visishtadwaita, Dwaita, Dwaitadwita, Achintya Dwaitadwita etc., all claiming Vedas, Bhagawat, Bhagawadgita and Vedanta Sutras as their authorities. It appeared as if the knowledge of Vedic Sanskrit and the above-mentioned authorities was necessary for any new school of thought to become acceptable. Any new thought had necessdarily to be a new interpretation of the "PRASTHANATHRAYA" otherwise it would not get sanction from the Pundits.

If a saint like Kabir or Nanak came forward proclaiming new thought, the priestly Pundits were clever enough to dub them as unorthodox. Those who accepted the suzerainity of the Pundits remained as Bhaktas and those who left out formed a separate group and started a new school. Shri Chaitanya Mahaprabhu is a best example as an illustration of the above point. He has been dubbed as the founder of the Bhakti cult based upon Bhagawat.

The nineteenth century is full of remarkable thinkers, seers, sages and saints in our country. Dayananda , Keshab Chandra Sen, Ramakrishna Paramahansa and many others of Maharashtra, Karnataka and Tamil speaking areas appear as shining jewels during the darkest period of British Rule. All of them had to take shelter under the cover of Vedas and Vedanta.

In our days we come across some great gifts bestowed upon us by God. Shri Aurobindo with his brilliant philosophy of Integral Yoga, Gurudeo Rabindranath Tagore with his lovely devotional songs and music, Mahatma Gandhi with his statesmanship of Truth, and Non-violence Maharishi Ramana with his beautiful silence of Self-Enquiry

have founded almost new schools of thought. But the days in which they lived were full of hopes and fears, wars and after-effects of wars, alien domination and struggles for freedom. What has become of the Mahayogi's Integral Yoga, of the Gurudeo's songs, of the Mahatma's message, of the Maharishi's Mahayoga I do not propose to discuss here. These are our great inheritance and legacy. We have got to increase our spiritual wealth. It is our bounden duty.

Now a new school of thought-a new Darshana-is appearing on the horizon of our great land. It is going to be the guiding light of the entire world. During the last quarter of the last century a great soul appeared in our country, He is now known as Samarth Guru Mahatma Ramchandra ji of Fatehgarh U. P. He trained people in spirituality through remodelled and improvised Yogic methods to suit the need of the time and the capacity of the people. After serving the masses for about 36 years he left his material form at the age of 58 on 14 th August 1931. He (was the originator of a new system for the attainment of) spiritual perfection. With him dawned the new Era of Yogic training through transmission of which he was the master.

This is a new Darshan showing a new and easy method of attainment. It differs from other methods in its being very easy, simple and direct. Hitherto in all methods, it was considered essential to have the knowledge of Sanskrit, to be born in a particular caste and to have many other qualifications in order to receive Brahma Vidya through transmission. The Abhyasi had to take up many other complicated and taxing practices and had to practise these intricate Sadhans for years together in order to become fit to receive the impulse. Sahaja Marg makes a radical departure from this orthodox view. It proclaims that every aspirant is fit to receive the Divine impulse and if a guru cannot transmit it to an asprirant; such a one is not fit to be taken as a guru. Here, instead of laying more stress upon the qualifications and fitness of an aspirant, much more stress is laid upon the fitness of the preceptor This may be a bit shocking and even scandalising to the Pundits and the numerous gurus. But the trend of times is in this direction and this new thought is sure to catch the imagination of the true seekers. The first question which any seeker, henceforth is likely to put to a guru will be, "Well, reverend Swami ji, can you transmit into me that state which you have been describing according to

your knowledge of the Shastras ?" If the reverend Swami ji replies in the negative or refuses to reply he is likely to lose that client–I am sorry– that would-be Chela.

Transmission of the Yogic power or "PRANAHUTI" is the basic principle of training under the system of Sahaja Marg; which is sparingly and scarcely used in other systems. Although it was used by almost all our ancient sages and even by our comparatively recent saints like Chaitanya Mahaprabhu, Ramakrishna Paramahmsa and Swami Vivekananda of whom instances are recorded, yet it has been kept a secret so far. Now Nature requires it to be brought to light, and the founder of Sahaja Marg has done it.

Another peculiarity of this new thought is that it does not consider Viveka and Vairagya (discrimination and non-attachment) as the Sadhana to be forcibly practised but considers them as inner states to be automatically developed in a natural way as the results of right meditation. One more speciality of this new Darshan is its novel and direct methods of purification. In all other methods, although the thought of purification is not unknown, no direct methods are prescribed for the same. For this, some

prescribe Nishkam Karma, others prescribed intricate practices of bhakti and Upasan, still others prescribe mechanical repetition of mantras. It is only in Sahaja Marga where the power of thought is directly utilised for the purification of the inner system of our being.

Any system of philosophy which does not have the realisation of or attaining oneness with the Ultimate as its primary aim of inquiry, or at least liberation as the first necessity, will be useless and inconsequential. In India such a sys will be considered as foreign and un-Indian and will not receive any serious attention. It may appear modern and fashionable to scoff at the idea of liberation saying that the wish for liberation is the wish to run away from life or to escape from this evolutionary world etc. But unless one is liberated how can he help the so called "evolution" of mankind to attain "Supermanhood" ? Liberation of the individual from his inner bondages is the first necessity which is recognised in the Darshan of Sahaja Marga. No person is deemed to be qualified to impart spiritual training to others unless he has attained the required standard.

The greatness and peculiarity of our Darshans lie in the fact that they give more impor-

tance to realisation than to speculation. Nevertheless they are great philosophies even in the sense of presenting a consistent view of the Ultimate Reality, which is at once both logical and practical. In course of time, due to the influence of alien cultures and thoughts and due to the unbalanced emphasis on particular aspects of Sadhna, such as karna, Bhakti and Jnana further schools have developed. Shri Aurobindo has taken these as the three methods of Yoga and tried to synthesise them into one. He has also attempted to present the three aspects of Reality, namely, Existence, Consciousness and Bliss, as One and called his philosophy as "INTEGRAL YOGA." His philosophy is confined to the realisation of the integral aspect of "SASCHIDANANDA" or The VIRAT, through the instrumentality of Supermind. This, according to him, is the ulti mate purpose of life which has evolved from the Inconscient Matter to the Mind which has to evolved still further into Supermind. Although he endorses the western scientists theory of evolution yet he believes in the "LEELA" or the play of the Lord. But Shri Ram Chandra ji of Shahjahanpur writes in Reality At Dawn, "In fact, the stages of Karma, Upasan and Gyan are not different from each other but are closely inter- related and exist all together in one and

the same state." His view goes far beyond Satchidananda aspect of Reality. An idea can be had from the following quotation from Reality at Dawn;-"The end of religion is the beginning of spirituality, the end of spirituality is the beginning of Reality, and the end of Reality is the Real Bliss. When that too is gone we have reached the destination." Regarding the Western scientists theory of evolution of life from the solid matter, Sahaja Marg's point is that grossness went on increasing once the creation started and it is not correct to say that life is the product of the combinations of matter.

The remarkably beautiful picture of the Divine Life of the community of the highly evolved human beings having the supermind in different degrees is an example of the deep effects of the Western dreamers. Here one can clearly see the noble and sublimated desire for a spiritual Utopia. Although the Mahayogi has realised, To be or to become something, to bring something into being is the whole labour of the foace of Nature, to know, feel, do are subordinate energies ..... Knowledge, thought and action cannot be the essence or object of life ....., yet he cannot help exclaiming, To be and to be fully is Nature's aim in us, but to be fully is to be

wholly conscious of one's being ...to be fully is to come into possession of all one's force of self and of all its use.....a powerless spirit is no spirit ..... to be fully is to have the full delight of being....." This is the ultimate word of the phi losophy having SAT-CHIT-ANANDA as the final state of realisation.

In the phi'osophy of Heart Region The Heart- Region covers the entire existence, consciousness and bliss. The question of further evolution in the human body through the process of rebirth drops off once this region is crossed. The fundamental philosophical concept of Sahaja Marga is that the original sate of the spirit consists of utter silence, purity and simplicity and the object of Sadhan is to regain that Original Condition even while living in this body. There is no necessity to either re-form this body to perfection or to grow or evolve new instruments of knowledge and awareness. Such desires are automatically washed out with the purification and illumination of the heart. The real and natural state of being automatically sets in, once the opening is made towards the descent of divine Grace.

According to the propounder of Sahaj Marg,

"Philosophy is a subject not based on reason but intuition. It starts not from 'Doubt' as most of the western philosophers hold, but from Wonder. A life of practicality, undergoing all the experiences depicted therein is therefore essential to arrive at the reality of thing." Therefore we need not subscribe to any particular theory of creation or Divine evolutionism. If we do, we are likely to be dragged into petty quarrels pertaining to the metaphysical speculations which lead us nowhere. Sahaja Marg Darshan expounds the processs of creation on the basis of the actual experience of the Central Region. It also invites everybody to have that experience. Mahatma Ram Chandra ji writes in his book Efficacy of Raj Yoga. "If, somehow or other we cross this bigger circle (Region of Heart), then we have nothing to cross but the First or the Super-Mind of God- the cause of all this creation. Behind it, there is Centre-the real goal of life."

Within a very short period of its appearance Sahaja Marg has aleady placed before the world many discoveries which are of immense value to the abhyasis as well as to the philosophers. The first major discovery in spirituality has been done by Samarth Guru Mahatma Shri Ramchandra ji of Fatehgarh-U. P. It pertains

to the possibility for the human beings to cross the seven rings of Light of the Central Region around the Centre and to swim near Centre like the liberated souls even while having our bodies and in our life time. He has made many researches and discoveries which are now being brought to light by his successor and representative Mahatma Ram chandra ji of Shahjahapur U. P. The discoveries made by the latter in the Heart, Mind and Central Regions are also innumerable and are at once very important and extremely useful. His researches regarding the various points, knots and rings have been guiding his associates to explore further in the field. His findings about Kundalini are very practical and quite realistic. He has got full command over the various powers of Nature and is utiltsing them according to the needs of the times. Vastliterature based upon the experiences of the Abhyasis is developing. Persons are being trained to take up the work and to play their real part in Nature's work. Powers of Nature are utilised even by his associates in accordance with the will of Nature to effect the Great Change required today. It is not a preconceived Utopia that is coming to be, but the natural glory of Man is going to be unfolded. "The old order changeth yielding place to new." Bigotry, fanaticism and narrow-middedness have to die. Those

who mend will survive others have to end. The days of the age of materialism are numbered. It is only through spirituality that man can hope to rise to higher regions of his being. Sahaja Marga-the New Darshan is the most promising school of philosophy as well as the Path of Spirituality.

An Abhyasi's Experience.

As for my inner condition I can only say that I feel like not being in the world. In a poet's words, 'Being in the world I am not a seeker after it. I am passing through the Bazar, not being a purchaser myself.'

Now I have in life no purpose, no necessity, no temptation, nor any desire. My eyes, ears, nose and mouth are all at work but really I feel without them. It may well be expressed as a DEAD state, but that may not be quite appropriate, since I feel quite active and lively too. Being without purpose or desire I am going on in my daily routine with numerous desires and wants. I may rather put my condition like internally quite dead, outwardly full fledged living. In short I feel like being off myself, having no condition at all. An expression of it is beyond words.

O'Master ! Thou hast in fact responded to my cry relieved me of the sins of all the past lives and emancipated me from bondage. Thou art the only Lord and Power.

MY MASTER OF THIS WORLD & BEYOND

(By Ram Chandra Saksena)

My logic and common sense says that taking Sanyas as it is considered to be in the present form, is against the will of Nature. If Nature would have willed that all the persons were to take Sanyas and retire into forests and mountains, what was the purpose of creation ? If per chance all retire as Sanyasis and leave this materialistic habitation what would happen ? All the procreation would stop and in one generation only the world cease to exist. In other words, the work of Lord Brahma who is said to be Creator in our scrirtures, would come to an end. What would our Brahma Ji then do ? To my mind, real Sanyas which is rather more difficult, is the Sanyas while being a Grahastha like oil in water being with the water and at the same time aloof.

To my all the misgivings about a Guru in my mind, Papa laughed and told me that the Guru to whom I had to go was not a Sanyasi but a Grahastha. He asked me to first meet him and then only form an opinion. To his logic, I had to agree and the next day was fixed for our

going together to this Grahastha saint whom Papa termed as Guru, not, I till then. The fateful day came. In the morning I along with Papa proceeded to the saint's place. None of us talked in the way. Most probably, Papa was transmitting force to n e, to prepare me for the fateful meeting with the High personality.

We came to his house-quite a big house-and then we entered the sitting room. In the middle was seated an elderly person, very serious and sober with white flowing beard. A little distance away sat a lean and thin person with very unassuming airs, very weak in health with a small black-beard, a few white hair shining through the black growth. I took the elderly personality to be the Guru and sat before him quietly Papa also, meanwhile, had his seat by the side of the elderly person whom he called 'Bhai Sahib' They both started talking. I was sitting quietly. To one or two questions of Bhai Sahib I answered meekly. Something awe-inspiring, I felt in his presence. I was thinking and rethinking in my mind and quietly I was enwrapped in my own thoughts. So I had now come to a place of a Guru. What next ?

Sitting there, in that room of meditation, in front of the white bearded gentleman, by whose

side, that lean and thin and un-assuming sort of personality, with a smaller black beard, was present, my thoughts went awry, with regard to the elderly gentleman, known as Bhai Sahib. With his demeanour, lines of his face or I cannot say with what, I felt that something which I had dreaded in a Guru from the very beginning was present in him. I cannot say now what was then the reason for it, but then this type of feeling was present at that time. I tried to argue in my mind that my ideas were wrong. Some persons are like coconuts– rough exterior and very soft from inside. These arguements came into me because of the fact that Papa in whom, I had by now, great faith, had spoken so very good about this saint, who was to be my Guru, that I was feeling a little bit surprised at the revolt in my ideas at the time. Because of his demeanour and method of talk and specially because of these tallying with my preconceived ideas about a Guru, I was taking him to be the personality concerned. Really, it was he who had talked to me; had made all the questioning etc. The lean fellow was sitting quietly all the time. It was therefore but natural that I took the elderly person to be the Guru. But from the very moment of my entering the sacred room and seeing both the persons sitting there, I had

taken some natural fancy to the lean fellow. In fact, it was a case of love at first sight, though at that time, I could not realize this. I would have understood this feeling, but for my suspicions about the Gurus, as narrated before. So, from the very beginning, I was feeling in the heart of my hearts, in fact, I was praying that I should get meditation at the hands (still not feet) of that lean and thin personality. Sitting quietly, on a side, I do not know why I had liked him. His un-assuming personality, quiet demeanour, something in him, not visible, something in him visible, had made a great impact on me and hence this desire.

And lo! what kindness of the Almighty, what good will, that while I was thinking all this, the desired personality asked me to come up to him for the required meditation. Immediately I obeyed. The few words 'BabuRam Chandra, Aiye' (Please come) really sent a rapture, a peculiar feeling of thrill within me and quite happy at heart, I went and sat opposite him, for whom I had liking from the very beginning. He then asked me to start meditation. I meekly asked him the method. He wanted me to continue as Rameshwar (Papa) had told me. I started and

he was transmitting. What a great pleasure, what a joy, what a great peace of mind, all concentrated within those fifteen minutes. And friends, I tell you one thing, quite confidential, that at the end I felt a very great urge in me really a forceful urge to embrace the fellow and kissed him hard straight on his mouth. So Sir, within a few minutes I became a lover and he a beloved. What a transformation? For about half an hour afterwards, I was sitting quietly, just in a sort of bliss; all alongwith Godly ideas. I was feeling surprised about the power of this seemingly weak person that he could do so much within a fifteen minutes transmission. What a great source of power, I had come across. How obliged, I was feeling to Papa and how sorry for my ownself that I did not come earlier. I thought that I have now got what I had wanted all these years. With such a personality, having nothing of those elements against which I had prejudices ofcourse quite strong prejudices and on the other hand with such an un-assuming nature full of all humility, I could, rather I should have the relation of a Guru and a disciple. My mind bowed to this idea and very wilfully from that very time, I accepted him as my Guru, my master-my heart accepted him as such, my

mind accepted him as such, in fact everp particle in my being accepted him as such. So, from now on, a hater of Guru, became a lover of Guru.

Henceforth, I became a regular visitor to this great citadel of spiritualism and regularly I was getting His affectionate masterly blessing in the shape of transmission. Papa also, at times was giving me transmissions. I was now having the privilege of master's discourses as well and so constantly I was gaining knowledge of his ideas, methods and other tit bits of this great science. I now thought of reading works of some great authors. The master had good collections of books I read some thing from Swami Vivekanand Ji but then I found my own view being coloured by the thoughts I read and the peculiar thing which I noticed was that this colouring of views started playing some role, ofcourse, quite insignificant, in my thoughts and ideas in meditations. This was again repulsive to me. I left reading as I did not want to lose the originality in my reccipts during meditation or during transmissions. I determined that the book which I have to read and understand is the Master only. Since then, I am always reading him. Readers, I can not tell you how unfathomable, how deep, what a great fountain of knowledge, my this

book of all books—the master, is. I am reading this book for the last about seventeen years and I think, I have not been able to read even a few first pages of this Great Book. What else remains to read elsewhere, when you have ready at hand such a vast concourse of knowledge itself.

(to continue)

Talks on Efficacy of Rajyoga.

(Dr. K. C. Varadachari, M. A., Ph. D.)

(Continued from previous)

The heart region as the heart physical is the lower region or the centre of the lower region. Indeed since the circulation of blood is all through the physical body in a sense the whole of body is called the Heart Region.

The Heart Region consists of many fibres of different hues and colours and we are all the time with them says the Master (p. 20). Infact it is seen that one experiences in meditation several kinds of colours, such as yellow, red, green and blue and it is also seen that these are in fact experienced only to be transcended on our return journey to the Centre. In meditation as already stated, we make a will in our heart covering

thereby the surroundings around the Heart Region.' (P. 20). As the several knots or granthis or cakras within the Heart Region begin to glow in meditation, we begin to pass towards the Centre. At the beginning we cross the different stages of Maya or Power. In the Reality at Dawn Sri Ramchanra ji has drawn a diagram of the several circles which begin to form the centre towards the outermoust ring or circle, These comprise 23 circles which are concentrically forming even like those which are observed when something is thrown in a pool of ter–the circles or rings go on ad infinitum from the centre giving us an impression of a cakra–vartana circular movement or a wheel so to speak. As we have stated it is even here to be presumed that every circular movement (or concentrical movement) comprises the twisting wavy movements also forming infinite number or innumerable number to be exact of knots or points of twist. One in fact passes through all the knots untying these knots or unwinding the threads (gunas–so to speak even of the triple threads of Samkhyan prakrti). Meditation is a subtle and powerful force of the Centre which helps the gradually and natural and therefore calm and pleasant return ascent towards the Centre itself.

Sri Ramchandraji also mentions that no practice of Hathayoga can bring about such a result. (P. 21). The Hathayoga practices have hardly a clear conception of the metaphysics and physics of this descent from the centre or the formation of these centres or knots. Its extraordinary method of cleaning and controlling the body and subduing the body by means of asanas, and bandhas and even prans of breaths leads undoubtedly to spectacular control over the autonomous nervons system which is really remarkable. It truly establishes the ancient dictum that mind moves matter (mens agitat molem). Hathayoga does not really use the Ultimate or central force to effect the ascent and untie the knots beyond a particular point. This point, Shri Ramchandraji says is the Ajna cakra which is located at the Bhru madhya or midsoace between the brows. We can here infer that the force of thought utilised by the Hathyoga is of this level alone and not beyond it. The ineffectual activity of that Ajna-cakra-thought becomes evident when we find also that all the socalled miracles and capacities and abilities are of the region of Maya or power and one does not transcend Maya at all. It is in respect of lower begins a power of great value but a delusive one

in so far as it makes one believe that it can lead upwards whilst in fact it cannot.

So far the importance of utilising the central force in meditation and in doing it at the Heart. But there is always a danger of limiting our view of the Heart to the physical heart made up of flesh and blood. Usually whenever we speak or think of the Heart it is this physical heart that we refer to. The Heart Region however is that which covers both the inner and outer that has resulted after the emergence of the First Mind the higher worlds or brighter worlds obviously belong to the region of the First Mind. The Heart Region which is thus very vast is described by the master as containing all the knots or cakras, and all communications with higher worlds. Indeed all establishing of relations with the Superconscious states as well as deep sleep state is possible in this region itself. Master speaks of the Heart Region as 'main artery of God' which means that we can not reach God exept though this region.

Bodily consciousness or that one is the body alone arises here and consider this heart to be everything. The body being identified with the running of the heart, stopping when it stops or rather dying when it stops, it is the

maintenance of the body that is said to be the chief concern of every human being one lives for the body, rather than that the body exists for true living. This is an inversion or rather the putting the cart before the horse. All the circles that man has put round himself are so many bondage rings owing to the preoccupation with the maintenance of the body. Master says that the very form of the body in its solid form or condition is verily due to the hammering out of the rings into this form of roundness etc, and congealing it into solid condition of bones, muscles, nerves, glands, blood etc. The thought or ideas which are verily forces begin to be in a subordinate position Instead of these ideas being really for the experience of true state have developed new ideas which are the inversions of the original and begin to subserve the ends of the body and its several parts or sections. Ideas indeed become ineffective when they are sought to be worked against the interest of the body. The whole world knows how all ideas which are conforming to the solidity of the body, and its greater preservation are accepted and the contrary ideas such as scek to make body an instrument of the dharma and Moksa (dharma sadhana) are said to be nonsense. That is also one of the major reasons why the modern age is

nessing the triumph of economics over philosophy, politics which the philosophical sociology has today become an handmaid or laquey of economic distributism and production of goods which seek to protect the body as such and pumper to its enjoyment or pleasure. A modern writer of the Oxform Movement founded by Frank Buchman wrote a fine book called Ideas have Legs, in which he shewed the dynamic return of ideas to their legitimate role only when ideas are for the Divine life. In other words ideas must be seen to have their real nature only when they are related to the Ultimate Divine. Pseudo ideas are those which dominate the world or solids and grossness and forge rings of bondage in the name of security of the body. It is as it were a King or President of a state is held in protective custody in the castle which he built for been free.

The modern idealism which considers ideas as forces or as ultimate realities is unfortunately unable to see that all its ideas are forced into the patterns of sensory experience or economic dialecties or logistical dance of opposites arbitrarily constructed or invented by idealistic philosophers Today our great difficulty in putting across real thought is due to the fact that ideas themselves have been congealed into solid jargons that have lost all capacity to lead to the real factors of the genesis of ideas.

(to continue)

The Master and God

(Shri Ishwar Sahai)

In Sahaj Marga what we finally aim at is the one, Absolute. For that is a therefore essential to have our thought fixed upon one and one alone. So from the very start we proceed by it avoiding multiplicity as far as possible.

The master while expressing his views on the point says, "we have finally to proceed towards 'Unity' while they, refering to the worshippers of gods and goddesses, on the other hand, drifting towards 'Diversity' are directing the flow of thought into numerous channels weakening and shattering thereby, their power of thought. Their efforts for realisation consequently end in failure.

Now the two are there–the Sadhaka and the master. This distinction is to be maintained however, for without it no progress can ever be possible. Now the view taken up by him of the master is that of a guide who is to lead him on to his ultimate Goal. The Goal he has taken up is the realisation of the One Absolute and for that purpose he has taken up in his heart another one for his help and support. Thus the two are now in his view—God and the master.

Further on when there are two in his sight, it is just possible that the idea of comparative greatness—the distinctive feature between them might also settle in. When it is so it is also probable that other higher beings of the intermediary rank, viz past sages, Avatars and numerous gods might also come in to fill up the gap between the master and God. What shall be the fate of one who extend his vision upto that extent ? Difinitely he will gradually be led towards multiplicity, with the idea of great, greater and greatest in the backgroud.

What shall be the Master's position then ? For sure he shall then be only a superior being in comparison to the sadhak and an inferior being in comparison to God and other beings of intermediary ranks. How for that thought may be helpful for the ultimate purpose, let everyone judge for himself.

Our Shastras therefor lay down in clear terms, 'Know they Guru as Brahm.' That means that Guru or master must be to the Sadhaka, the one supreme, with none else besides—neither Ram nor Krishna nor even God. The Master alone is all for him and he is his only God.

But the advocates of gods sometimes put forth a contention that Swami Ram Krishna

Paramhansa is said to have attained the Highest through the worship of Kali alone. That may no doubt be an apparent fact but they do not lend their thought to understand the underlying truth in it. It was in fact not Kali, the goddess that he meditated upon but Kali the Supreme and the Infinate. In other words his thought was fixed upon the supreme which he called as Mother Kali. That means he never worshipped the goddess but the very Supreme under the name of Kali, hence there is nothing wrong in it. Similarly if we take the Master in that sense, it is all and enough, but then there must be in his view none other besides.

That is in fact the exect sense implied in the statement, "Know they Guru as Brahm." But that applies to the real Guru only and not to the professional disciple-hunters. I may here put down a quotation from the master's writing, relating about himself:-

"I ever remained a blind devotee of him who was all and every thing to me. I could never attach myself to God, though in the popular sence it might have been a mistake on my part. All that I wanted was to secure my approach upto him and an end similar to his. Infact I was only a man-worshipper, the wonders of which are in my full experience now." (Contd. on the cover)

He is also known to have once remarked that if he had been offered a chance to select for himself one of the two, either God or the Master, then he would have selected the latter for him. Such an undivided attention with mad-devotion and unquestioning surrender is the key of success and for this we have only to copy the Master's example which is before our eye.

Humanity.

Nothing in man is originally wrong or bad, because the Great workman-God, could not have left anything wrong or wanting in man. But it is we alone who are responsible for the wrong, if it happens to exist at all.

We possess mind, senses and faculties which are incessantly at work. But whether they go in the right course or the wrong, we do not bother about to take into account. That is almost a common defect and for this very reason we begin to blame the mind or the Ego. To my view, Mind and Ego are the only two things in man-the best and the most useful. Ego refers to the real Being and mind searches it out. What we have really to take note of is their proper utilisation, avoiding misuse for the sake of self-indulgence.'

That is, in fact 'humanity' in the true sense and one must keep up with it as duty-bound.

(Master's thought)